



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2020; 6(6): 172-182

© 2020 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 16-08-2022

Accepted: 25-10-2022

डॉ. मुकेश कुमार मिश्र

सहायक आचार्य, संस्कृत
विभाग, देशबन्धु महाविद्यालय,
कालकाजी, नई दिल्ली, भारत

डॉ. रमा सिंह

सह-आचार्या, संस्कृत विभाग,
देशबन्धु महाविद्यालय,
कालकाजी, नई दिल्ली, भारत

मनुस्मृति में निरूपित आश्रम-व्यवस्था

डॉ. मुकेश कुमार मिश्र और डॉ. रमा सिंह

सारांश

जीवन की वैज्ञानिकता को निरूपित करनेवाली व्यवस्थाओं में सर्वाधिक ग्राह्य व्यवस्था आश्रमव्यवस्था है। यह वैश्विक सभ्यता एवं संस्कृति को भारत की अन्यतम अभूतपूर्व देन है। चतुर्विध आश्रम जीवन की चार अवस्थाओं को व्यक्त करता है। प्रत्येक आश्रम में श्रमपूर्वक कार्य करते हुए परमपद मोक्ष की प्राप्ति में यह व्यवस्था सहायक सिद्ध होती है एवं परमपद मोक्ष को सुलभ बनाती है। यह व्यवस्था आज भी पूर्णतः प्रासंगिक एवं वैज्ञानिक है। प्रस्तुत शोधलेख में मनुस्मृति में चित्रित आश्रमव्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है।

कूट शब्द: आश्रम, वैश्विक सभ्यता, परमपद, पुरुषार्थ, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, अवदानादि।

प्रस्तावना

जीवन की वैज्ञानिकता को निरूपित करने वाली व्यवस्थाओं में से सर्वाधिक ग्राह्य व्यवस्था आश्रम व्यवस्था है। भारतीय व्यवस्थाकारों द्वारा सुव्यवस्थित एवं सुसंयोजित रूप में प्रतिपादित यह व्यवस्था विश्व की किसी भी सभ्यता एवं संस्कृति में भारतीयरूप में अनुपलब्ध होने से भारतीयों की अद्भुत व अद्वितीय देन मानी जाती है तथा इसमें अन्तर्गर्हित वैज्ञानिकता को समस्त वैश्विक सभ्यता एवं संस्कृति के व्यवस्थाकारों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। आङ् √आ उपसर्गपूर्वक √श्रम् धातु से घञ् प्रत्यय लगकर आश्रम शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ कोशग्रन्थों में शास्त्रोक्त धर्मविशेष, संन्यासियों का आवासस्थान, मठ, कक्ष, तपोवन, अवस्था, जीवन की चार अवस्थाएँ आदि प्राप्त होता है।¹ संस्कृत-आंग्लकोश में भी आश्रम शब्द का आशय - A hermitage, hut, cell, dwelling or abode of ascetics, a stage, order or period of the religious life of a

Corresponding Author:

डॉ. मुकेश कुमार मिश्र

सहायक आचार्य, संस्कृत
विभाग, देशबन्धु महाविद्यालय,
कालकाजी, नई दिल्ली, भारत

¹ वाचस्पत्यम्, भाग-2, पृ- 839; शब्दकल्पद्रुम, भाग-1, पृ. 195; संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 165

Brahmana (These are four: ब्रह्मचर्य (Brahamacharya) the life of a student, गार्हस्थ्य (Garhasthya) the life of a house-holder, वानप्रस्थ (Vanprasthya) the life of an anchorite or hermit and संन्यास (Sanyasa) the life of a Bhikshu or beggar or abandoner of all worldly concerns) a wood or thicket (where ascetics practice penance) etc.² सामान्यतः √श्रम् धातु से व्युत्पन्न आश्रम शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ होता है - एक ऐसा जीवन-स्तर जिसमें व्यक्ति अत्यधिक श्रम करता है - आश्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः। अथवा आश्राम्यन्ति स्वं स्वं तपश्चरन्त्यत्र अर्थात् - जहाँ योगीजन अपनी-अपनी तपस्या में संलग्न रहते हैं, वह आश्रम है। प्रस्तुत प्रसंग में आश्रम शब्द से जीवन की चार अवस्थाओं का ग्रहण किया गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत मानव अपने जीवनकाल में श्रमपूर्वक विभिन्न आश्रमों में से प्रत्येक आश्रम में पूर्ण निष्ठा के साथ अपने कार्यों का सफलतापूर्वक सम्पादन करता हुआ आगामी आश्रम के साथ अपने को सुसंयोजित एवं सन्नद्ध कर अपनी जीवनयात्रा को पूर्ण करता था। जीवनयात्रा पूर्ण करने की सम्पूर्ण योजना यत्नपूर्वक श्रमाधारित थी। प्रयत्नपूर्वक क्रिया अथवा श्रम से आबद्ध एवं सन्निविष्ट होने के कारण आश्रम शब्द के आशय के रूप में उद्योग, प्रयत्न, परिश्रम, प्रयासादि को भी अंगीकृत किया जाता है। परमपद अथवा मुक्तिमार्ग तक पहुँचने अथवा उसे सुलभ बनाने में आश्रम व्यवस्था सहायक मानी जाती है। प्रत्येक आश्रम की स्थिति भिन्न-भिन्न होते हुए भी मोक्षप्राप्ति को जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है जिसकी प्राप्ति हेतु मनुष्य विधिपूर्वक उद्योग या प्रयास करता है। इस दृष्टि से मानव जीवन स्वयं प्रशिक्षण एवं आत्मानुशासन से सम्बद्ध है, जो चार चरणों/अवस्थाओं में विभक्त दिखाई पड़ता है। चतुर्विध अवस्थाएँ इस बात की ओर भी संकेत करती हैं कि प्रत्येक अवस्था जीवनयात्रा में एक विश्रामस्थल के रूप में कार्य करती है जहाँ एक कार्य के सम्पन्न होने पर आगे की यात्रा-हेतु तैयारी की जाती है और अन्ततः अन्तिम लक्ष्य परमपद की प्राप्ति होती है।

भारतीय सामाजिक परिप्रेक्ष्य में आश्रमव्यवस्थासदृश संस्था का उद्देश्य मानवजीवन को सुसंस्कृत, सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित करने की सुसंयोजना रही है। भारतीय मनीषियों ने लौकिक एवं पारलौकिक जीवन की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी क्रियात्मक एवं वास्तविक जीवन पर अवलम्बित पारलौकिक जीवन को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनकी विचारदृष्टि में जीवन समष्टिगत भावनाओं का संगम व समन्वय है, जिसमें बौद्धिकता, धार्मिकता,

आध्यात्मिकता, श्रम, कर्तव्य, निष्ठा, सात्त्विक आचार, विचार, शुद्धचरितादि का योग एवं सुसंयोजन दिखाई पड़ता है। योगमय आदर्शात्मक आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मनुष्य मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है। आश्रम व्यवस्था प्राचीन आचार्यों की अपूर्व मेधा, ज्ञान व प्रज्ञा को प्रदर्शित करता है जिसमें ज्ञान-विज्ञान, लोक-परलोक, धर्म-कर्म, भोग-त्याग का अनुपम व अद्भुत समन्वय है। धर्मादि पुरुषार्थचतुष्टय के साथ इसका अन्यतम सम्बन्ध है और इसके सहयोग से ही यह सम्पन्न होता है। यह मनोगत या मनोवैज्ञानिकता एवं नैतिकता पर आधारित मानसिक एवं नैतिक व्यवस्था है जहाँ मनुष्य जीवन के विविध स्तरों पर मनःकृत एवं नीतिकृत विविध कर्मों एवं दायित्वों का निर्वहण करता हुआ अपने जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बनाता है। नैतिकता एवं मनोवैज्ञानिकता पर आधृत पुरुषार्थ के साथ सुसंयोजित होकर व्यक्ति एवं समाज को सुसम्बद्ध करता है तथा सामाजिक व्यवस्था के सुसंचालन में सहायता प्रदान करता है। इसके द्वारा जहाँ एक ओर मनुष्य पुरुषार्थ का पालन करते हुए मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण को प्राप्त करता है वहीं दूसरी ओर समाज के प्रति अपने दायित्व का पालन करते हुए अपने कर्तव्यों को पूर्ण एवं सार्थक सिद्ध करता है।

चार आश्रम एवं प्रत्येक आश्रम के लिए निर्धारित पच्चीस-पच्चीस वर्ष की अवधि अर्थात् कुल सौ वर्षों में विभक्त मानव जीवन से सम्बन्धित इस व्यवस्था का दार्शनिक आधार भी है जो क्रमशः ज्ञानप्राप्ति, सांसारिक जीवन का उपभोग, सांसारिक जीवन से विरक्त होकर ईश्वराराधन तथा मोक्षप्राप्ति के निमित्त तपश्चर्या के द्वारा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति अथवा आसक्तता एवं निःस्पृहा के मध्य समन्वय स्थापित करने की भावना है जो परस्पर प्रतिरोधी के रूप में नहीं, सुहृन् रूप में निरूपित हैं। यह इस बात को भी ध्वनित करता है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा प्रवृत्ति के अनन्तर निवृत्ति ही जीवन का मर्म है और इसी में मानवजीवन की समृद्धि और उन्नति अन्तर्गर्भित है। सांसारिकता एवं व्यावहारिकता अथवा सामाजिक और आध्यात्मिकता के समन्वय के साथ-साथ सत्य का अन्वेषण एवं उसकी प्राप्ति हेतु कठिन कर्तव्यकर्म या तपश्चर्या के भाव इस व्यवस्था के आधार हैं, जो अन्ततः पुरुषार्थ से सुसंयोजित होकर विशुद्ध सत्य की प्राप्तिरूप मानव जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है।

मानव जीवन का सौ वर्षों में परिकल्पन व निर्धारण तथा तथा प्रत्येक आश्रम के अनुरूप उसका पच्चीस-पच्चीस वर्षों में निरूपण का वैज्ञानिक आधार एवं यथार्थ भी परिलक्षित होता है।

² Sanskrit-English Dictionary, p. 89

आश्रमविषयक मनु का भी निरूपण है जहाँ सामान्यतः मानवजीवन को सौ वर्षों में विभक्त कर देखा जाता है।³ यह भी सही है कि सभी व्यक्ति सौ वर्ष की आयु को प्राप्त नहीं करते हैं। फिर भी सौ वर्षों तक जीने की आशा तो की ही जा सकती है। इस आशा को स्वीकार करते हुए सौ वर्ष की अवधि को चार भागों में विभक्त कर प्रत्येक आश्रम के साथ सम्बद्ध कर लिया गया है। चार भागों में विभक्त कर प्रत्येक के लिए पच्चीस वर्ष की अवधि निर्धारित करना न तो तर्कसंगत प्रतीत होता है और न ही उपयुक्त है। इसलिये कहा जा सकता है कि आश्रम की अवधिगत लम्बाई कम या अधिक हो सकती है। फिर भी प्रायः स्मृतिकारों ने इस चार भागों में विभक्त किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य में ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ आश्रम का प्रत्यक्ष निरूपण प्राप्त होता है जबकि वानप्रस्थ का परोक्षरूपेण संकेत मिलता है। सम्भवतः आश्रम-सम्बन्धी संकेत सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण में दिखाई पड़ता है।⁴ आरम्भिक उपनिषद्-ग्रंथों में प्रथम तीन आश्रमों की चर्चा प्राप्त होती है। यह भी सम्भव है कि आरम्भिक उपनिषत्काल में वानप्रस्थ एवं संन्यास के मध्य कोई स्पष्ट विभाजनरेखा नहीं रहा हो तथा यहाँ तीन आश्रम स्पष्ट रूप से स्थापित दिखाई पड़ते हैं। जाबालोपनिषद् में चारों आश्रमों का स्पष्ट निरूपण प्राप्त होता है।⁵

नाम एवं अनुक्रम में अल्प परिवर्तन के साथ व्यवस्थाकारों ने चार आश्रमों की चर्चा की है। आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार चार आश्रम हैं - गार्हस्थ्य, गुरुगृह (गुरुगृह) में निवास, मुनिरूप में रहना तथा वानप्रस्थ में रहना (वन में रहना)।⁶ गौतम के अनुसार चार आश्रम हैं - ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु एवं वैखानस।⁷ वशिष्ठधर्मसूत्र के अनुसार चार आश्रम हैं - ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं परिव्राजक।⁸ यहाँ संन्यास के लिए यति शब्द का भी प्रयोग मिलता है। बौधायन धर्मसूत्र में उल्लिखित नाम वशिष्ठधर्मसूत्र के समान है।⁹ याज्ञवल्क्यस्मृति में भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं यति (संन्यास) आश्रम की चर्चा है। मनु ने वानप्रस्थ आश्रम के पर्याय के रूप में वैखानस एवं अन्तिम आश्रम के लिए

³ मनुस्मृति, 4/1

⁴ किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रुणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्मण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः। - ऐतरेय ब्राह्मण, 33/4

⁵ ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादिव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। - जाबालोपनिषद्, 4

⁶ आपस्तम्बधर्मसूत्र, 2/9/21/1

⁷ गौतम-धर्मसूत्र, 3/2

⁸ वशिष्ठधर्मसूत्र, 7/1-2

⁹ बौधायनधर्मसूत्र, 2/6/17

संन्यास व यति दोनों शब्दों का प्रयोग करते हुए चार आश्रम बताये हैं।¹⁰ धर्मसूत्रों में चतुर्थ आश्रम संन्यास के पर्याय के रूप में परिव्राट् या परिव्राजक (एक स्थान पर नहीं ठहरनेवाला), भिक्षु (भिक्षावृत्ति द्वारा भोजन करनेवाला), मुनि (जीवन और मृत्यु के रहस्य पर विचार करनेवाला), यति (इन्द्रियों को संयमित करनेवाला) आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

आश्रम और पुरुषार्थ का अन्तःसम्बन्ध सर्वविदित है। ब्रह्मचर्य में धर्म की प्रमुखता होती है तथा धर्मपूर्वक अर्थ और काम पर नियंत्रण स्थापित कर ब्रह्मचारी से जीवनयापन की अपेक्षा की जाती है। गृहस्थाश्रम में अर्थ एवं काम प्रधान होते हुए उसके धर्मानुसार उपभोग की अपेक्षा की जाती है। वानप्रस्थ में भी धर्म तथा मोक्ष प्रमुख साध्य होता है। किन्तु प्रधानता यहाँ भी धर्म की ही होती है। संन्यासाश्रम में एकमात्र मोक्ष की प्रधानता होती है। यहाँ धर्म मोक्ष में ही समाहित दिखाई पड़ता है। व्यक्ति एवं समाज के परस्पर सम्बन्ध के निहितार्थ की दृष्टि से भी ब्रह्मचर्य में व्यक्ति के पोषण में समाज की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, गृहस्थाश्रम में समाज के पोषण में व्यक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है जहाँ व्यक्ति सामाजिक सम्पत्ति का न्यासी हो जाता है। वानप्रस्थाश्रम में व्यक्ति की स्थिति व्यक्ति एवं समाज के सलाहकार के रूप में होती है तथा संन्यास में व्यक्ति समाज के प्रति दायित्व से रहित हो जाता है। अतः व्यक्ति व समाज के साथ इस व्यवस्था का अन्तर्सम्बन्ध स्पष्ट है।

जहाँ तक मनुस्मृति में निरूपित आश्रम व्यवस्था की बात है तो यहाँ अत्यन्त विस्तृत रूप से उक्त व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। मनु ने अपनी व्यवस्था में चार आश्रमों अर्थात् ब्रह्मचारी या ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ या वैखानस और यति अर्थात् संन्यास की चर्चा की है तथा चारों ही आश्रमों में क्रमशः निवास करनेवाले द्विजों के लिए दस प्रकार के धर्म का पालन करने का उपदेश दिया है।¹¹ उन्होंने उम्र, कार्य, धन, ज्ञान और कुल के अनुसार वेषभूषा, वाणी और बुद्धि का आचरण करता हुआ प्रवृत्त रहने की बात की है। 'शतायुषः वै पुरुषः' अर्थात् श्रुतिग्रन्थों में प्रोक्त उक्त कथन के आलोक में मानवजीवन की आयु सौ वर्ष परिकल्पित की गई है तथा प्रत्येक आश्रम के लिए पच्चीस-पच्चीस वर्षों की अवधि निर्धारित की गई है। मनु की दृष्टि में चारों आश्रमों का विवेचन इस प्रकार है -

¹⁰ (i) ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।

एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः। - मनुस्मृति, 6/87

(ii) मनुस्मृति, 6/21

¹¹ मनुस्मृति, 6/91

1. ब्रह्मचर्याश्रम - ब्रह्म + √चर् + यत् व्युत्पत्ति पर आधारित ब्रह्मणे वेदग्रहणार्थं चर्यम् इति ब्रह्मचर्यः अथवा द्विजानां वेदग्रहणार्थं व्रतभेदे अथवा ब्रह्मणे वेदार्थं चर्यम् आचरणीयम् इति - इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाले ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ है - धार्मिक शिष्यवृत्ति, वेदाध्ययन के समय ब्राह्मण बालक का ब्रह्मचर्यजीवन, जीवन का प्रथम आश्रम, धार्मिक अध्ययन, आत्मसंयम, इन्द्रिय-निग्रह, कौमार्य, वेदाध्ययन के अनुकूल आचरणादि।¹² ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करनेवाला ब्रह्मचारी कहलाता है। ब्रह्म उपपदपूर्वक √चर् धातु से णिनि प्रत्यय लगकर ब्रह्मचारी शब्द निष्पन्न होता है, जिसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है - ब्रह्म ज्ञानं तपो वा आचरति अर्जयत्यवश्यम् अथवा ब्रह्म वेदस्तदग्रहणार्थं चरति व्रतभेदम् अर्थात् वेदार्थं ज्ञान का अर्जन, वेदार्थं ज्ञान के अनुरूप आचरण, ज्ञान अथवा तप का विधान, वेद का विद्यार्थी, जीवन के प्रथम आश्रम में वर्तमान ब्राह्मण, जो यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात् दीक्षित होकर गुरुकुल में अपने गुरु के साथ रहता है तथा वेदाध्ययन के समय ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का पालन करता रहता है आदि।¹³ इसलिये कहा गया है - उपनयनान्तरं नियमं कृत्वा गुरोः सन्निधौ स्थित्वा साङ्गवेदाध्ययनं करोति यः। स द्विविधः - उपकुर्वाणः नैष्ठिकश्च। अन्यत्र भी कथन है - उपनयनान्तरमाद्याश्रमयुतेद्विजातौ उपचारात्। अमरकोशकार भी कहते हैं -

तपस्वी तापसः पारिकाशकी वाचं यमो मुनिः।

तपः क्लेशसहो दान्तो वर्णिनो ब्रह्मचारिणः॥

कोशग्रन्थों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है तथा इस आश्रम के नियमों का पालन करते हुए जीवनयापन करनेवाले ब्रह्मचारी कहलाते हैं। मनु ने गर्भाधान से अन्त्येष्टिपर्यन्त जिन संस्कारों की चर्चा की है उनमें से चार अर्थात् उपनयन यानि वेदाध्ययन की योग्यता, पुनः वेदारम्भ, अनन्तर केशान्त तथा समावर्तन यानि गुरुगृह से वापिस लौटना - का समष्टिरूप ब्रह्मचर्याश्रम में दिखाई पड़ता है। मनु का कहना है कि आयु का प्रथम चौथाई भाग ब्रह्मचर्यकाल कहलाता है जहाँ व्यक्ति यथाशक्ति गुरु के समीप रहकर वेदाध्ययन करते हैं।¹⁴ मनु

¹² वाचस्पत्यम्, भाग-6, पृ. 4593; शब्दकल्पद्रुम, भाग-3, पृ. 444; संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 723

¹³ वही

¹⁴ मनुस्मृति, 4/1

का मानना है कि अखण्ड ब्रह्मचारी को क्रमशः तीन वेदों की शाखाओं का अथवा दो वेद की शाखाओं का अथवा एक वेद की शाखाओं का अध्ययन करके ही अगले आश्रम में प्रविष्ट करना चाहिए। तीन वेदों की शाखाओं का अध्ययन करनेवाले के लिए छत्तीस वर्ष, दो वेदों की शाखाओं का अध्ययन करनेवाले के लिए अठारह वर्ष एवं एक वेद की शाखाओं का अध्ययन करनेवाले के लिए नौ वर्ष की अवधि बतायी गई है।¹⁵ गुरुगृह में जाने के लिए छात्र को योग्य होना पड़ता है और उसका परिमाणक उपनयन संस्कार है। उपनयन संस्कार से संस्कारित छात्र ही गुरुगृह में जाकर वेदाध्ययन का अधिकारी है। मनु की दृष्टि में उपनयन संस्कार के लिए ब्राह्मण की आयु गर्भ से आठवें वर्ष, क्षत्रिय के लिए ग्यारहवें वर्ष एवं वैश्य के लिए बारहवें वर्ष बतायी जाती है, किन्तु ब्रह्मतेज की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मण के लिए पाँचवें वर्ष, बल की इच्छा रखनेवाले क्षत्रिय के लिए छठे वर्ष और धन की इच्छा रखनेवाले वैश्य के लिए आठवें वर्ष में भी उपनयन संस्कार किये जाने का प्रावधान है, यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के लिए यह आयु क्रमशः सोलह वर्ष, बाईस वर्ष एवं चौबीस वर्ष भी हो सकती है। मनु का कहना है कि उपनयन संस्कार से सम्पन्न द्विज का पुनर्जन्म होता है जहाँ सावित्री माता होती है तथा आचार्य पिता।¹⁶ उपनयन संस्कार सम्पन्न शिष्य को गुरु यज्ञोपवीत करके सर्वप्रथम उसे पवित्रता, आचार, होम और संध्योपासन की शिक्षा प्रदान करता है। वे कहते हैं कि अध्यापन करनेवाला शास्त्रानुकूल विधि से आचमन करनेवाला, उत्तर दिशा की ओर मुख करनेवाला, ब्रह्माञ्जलि किये हुए पवित्र वस्त्रोंवाला जितेन्द्रिय शिष्य ही अध्यापन के योग्य माना गया है।¹⁷ शिष्य को ब्रह्माञ्जलि के द्वारा अध्ययन कार्य करनी चाहिए तथा वेदाध्ययन के आरम्भ और अन्त उन्हें आचार्य के दोनों पैरों का स्पर्श करना चाहिए।¹⁸ वेदाध्ययन के आरम्भ और अन्त में ओंकार (प्रणव) का उच्चारण करना चाहिए तथा प्रणव, व्याहृतियुक्त सावित्री के मन्त्र अर्थात् गायत्री, चान्द्रायण एवं प्राणायाम चारों ही उपासनीय माने गये हैं।¹⁹ यहाँ जप से ब्रह्मसिद्धि की तथा इन्द्रिय नियन्त्रण से सिद्धि की बात कही गई है।²⁰ ब्रह्मचारी को जितेन्द्रिय होना चाहिए। इन्द्रिय-समुदाय को

¹⁵ षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।

तदधिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा।। - वही, 3/1

¹⁶ मनुस्मृति, 2/170

¹⁷ वही, 2/70

¹⁸ वही, 2/71

¹⁹ वही, 2/74

²⁰ वही, 2/87, 2/93

नियन्त्रित कर एवं मन को नियन्त्रित कर प्रातःकालीन एवं सन्ध्याकालीन उपासना को ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक माना गया है।²¹ ब्रह्मचारी के लिए विधिपूर्वक एक वर्ष तक स्वाध्याय (जपयज्ञ) करने की बात कही गई है।²² उपनयन संस्कार से संस्कारित द्विज को समावर्तन संस्कार अर्थात् वेदाध्ययन की अवधि तक समिधाओं को लाना, भिक्षावृत्ति, पृथ्वी पर शयन करना और गुरु की सेवा करनी पड़ती है।²³ वेदज्ञानी को अपात्र में विद्या का वपन नहीं करना चाहिए।²⁴ पवित्र एवं नियत ब्रह्मचारी से अपेक्षा की जाती है कि वह विद्यारूपी निधि की रक्षा करें।²⁵ गुरु-आज्ञा के बिना वेद की चोरी नहीं करनी चाहिए।²⁶ लौकिक, वैदिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करनेवाले का अभिवादन करना चाहिए, पूज्य व्यक्ति का सम्मान एवं अभिवादन करना चाहिए, अभिवादन का प्रत्यभिवादन करना चाहिए।²⁷ मनु ने निर्देश दिया है कि संस्कारित होता हुआ ब्राह्मण धीरे-धीरे गुरु के समीप निवास करता हुआ ब्रह्म की प्राप्ति करनेवाले तप को एकत्र करे।²⁸ यहाँ ब्रह्मचारी के लिए कतिपय नियमों का विधार किया गया है, जैसे - उपनयन संस्कार के बाद वेदाध्ययन करना, जितेन्द्रिय होकर तप की वृद्धि करना, नित्य स्नान से पवित्र होकर देवताओं, ऋषियों, पितरों का तर्पण करना, देवताओं का पूजन कर समिदाओं का आधान करना, मधु, मांस, गन्ध, माला, सभी रस, स्त्रियाँ, सिरका, जीवहत्या आदि का प्रतिषेध करना, उवटन करना, आँखों में अञ्जन लगाना, जूते पहनना, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, वाद्य आदि का परित्याग करना, अकेले सोना, वीर्यपात न करना, बिना इच्छा के वीर्यपात (स्वप्नदोष होने) करने पर प्रायश्चित्त करना, पानी का घड़ा, पुष्प, गाय की गोबर, मिट्टी और कुशा को आवश्यकतानुसार लाना, भिक्षा माँगते हुए विचरण करना, सायंकालीन एवं प्रातःकालीन उपासना को सम्पादित करना, सदैव भिक्षा से जीवनयापन करना, किसी एक ही व्यक्ति का अन्न नहीं खाना यद्यपि देवकार्य एवं पितृकार्य के समय केवल ब्राह्मणों के लिए एकान्न भोजन का

²¹ वही, 2/100-103

²² वही, 2/107

²³ वही, 2/108

²⁴ वही, 2/113

²⁵ वही, 2/114

²⁶ वही, 2/116

²⁷ वही, 2/123, 2/126

²⁸ मनुस्मृति, 2/164

विधान, जितेन्द्रिय एवं सदाचारी होना, गुरु से पहले उठना और बाद में सोना, गुरु के बैठे होने पर खड़े होकर, खड़े होने पर सामने जाकर, आते रहने पर आगे जाकर तथा जाते रहने पर पीछे दौड़कर वार्त्ता का विधान, गुरु के पीछे की ओर मुख किये रहने पर सम्मुख मुख करके, दूर हों तो समीप जाकर, सो रहे हों तो प्रणाम करके और वहीं रहने पर नम्रतापूर्वक आज्ञाश्रवण या बातचीत करना, परोक्ष में भी नामतः गुरु का उल्लेख न करना, गुरु की नकल न करना, गुरु के परिवाद या निन्दा को नहीं सुनना अथवा उस स्थल से अन्यत्र चले जाना, ब्रह्मचारी को सूर्यास्त एवं सूर्योदय के पहले ही गाँव से बाहर जाकर नित्यकर्म करना, दोनों संध्याओं में आचमन करके संयमी तथा समाहित मनवाला होकर पवित्र स्थान में सावित्री का जप करते हुए यथाविधि सूर्य की उपासना करना, मनसा, वचसा और कर्मणा गुरु की सेवा करना आदि।²⁹ गुरु सेवाक्रम में गुरु के शरीर-त्यागपर्यन्त यानि जीवनपर्यन्त गुरु सेवा का उल्लेख किया गया है। यहाँ गुरु की अग्निपर्यन्त सेवा करनेवाले अखण्डित व्रती को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा गया है जिसके लिए उत्तम स्थान प्राप्त करने एवं पुनर्जन्म धारण न करने का विधान किया गया है।³⁰ इस प्रकार मनु ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम के विधान एवं ब्रह्मचर्याश्रम में रहनेवाले ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का निरूपण किया है।

2. गृहस्थाश्रम - गृह उपपदपूर्वक $\sqrt{\text{स्था}}$ धातु से 'क' प्रत्यय लगकर गृहस्थ शब्द निष्पन्न होता है जिसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है - न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते अतएव गृहेषु दारेषु तिष्ठति अभिरमते इति - अर्थात् गृहिणी की उपस्थिति के कारण ही गृह गृह कहलाता है। अतः गृहस्थ आश्रम की सम्बद्धता गृह में पत्नी की विद्यमानता से सम्पन्न होता है। कोशग्रंथों में गृहस्थ का अर्थ गृही, दूसरे आश्रम में प्रवेश करके रहनेवाला एवं गृहस्थाश्रम का अर्थ गृहस्थ का जीवन एवं गृहस्थधर्म का अर्थ गृहस्थ का कर्तव्य बताया गया है।³¹ मनु ने मानव जीवन की आयु के द्वितीय भाग को गृहस्थाश्रम कहा है जहाँ ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के साथ ही अपना वैवाहिक कर्म सम्पन्न कर व्यक्ति को घर

²⁹ वही, 2/175, 176, 180, 192, 194, 195, 197, 198, 199, 200

³⁰ वही, 2/244, 2/249

³¹ वाचस्पत्यम्, भाग-4, पृ. 2659; शब्दकल्पद्रुम, भाग-2, पृ. 351; संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 351

में रहने का निर्देश दिया गया है।³² विवाह के विषय में मनु कहते हैं कि गुरु की अनुमति प्राप्तकर स्नान करके विधिपूर्वक समावर्तन संस्कारसम्पन्न ब्राह्मण को शुभ लक्षणों से युक्त समानवर्णा स्त्री के साथ विवाह करना चाहिए।³³ यहाँ सामान्यतः सपिण्ड एवं सगोत्र विवाह का निषेध किया गया है³⁴ तथा इसके विपरीत असपिण्ड एवं असगोत्र स्त्रियों के साथ विवाह को उचित माना गया है। गृहस्थ धर्म में निवास करते हुए गृहस्थों के लिए वैवाहिक अग्नि में नियमानुसार गार्हस्थ्य कर्म करने का निर्देश दिया गया है तथा उसी में पञ्चयज्ञों एवं दैनिक पाकयज्ञ का विधान किया गया है। गृहस्थ के लिए चूल्हा, चक्री, बुहारी, ओखली और जल के घड़े को पञ्चसूना (हिंसा) का स्थान बताते हुए इन्हें कार्य में लगाने से होनेवाले पाप के प्रायश्चित्त हेतु प्रतिदिन पाँच महायज्ञ करने का निर्देश दिया गया है।³⁵ उनके अनुसार पञ्चमहायज्ञ हैं³⁶ - 1. ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेदाध्ययन 2. पितृयज्ञ अर्थात् तर्पण करना 3. देवयज्ञ अर्थात् होम करना 4. भूतयज्ञ अर्थात् अन्न की बलि देना और 5. मनुष्ययज्ञ अर्थात् अतिथि यज्ञ। गृहस्थों को इन पञ्चमहायज्ञों का सम्पादन प्रतिदिन करने का निर्देश दिया गया है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए गृहस्थ के लिए देवता, अतिथि, भृत्य, माता-पिता और अपने शरीर के पालन का उपदेश दिया गया है। गृहस्थों के द्वारा सम्पादित किये जानेवाले पञ्चयज्ञ हैं³⁷ - अहुत अर्थात् जप करना, हुत अर्थात् होम करना, प्रहुत अर्थात् भूतबलि, ब्राह्महुत अर्थात् ब्राह्मणों की पूजा और प्राशित अर्थात् पितरों का तर्पण पञ्चयज्ञ हैं। आर्थिक विपन्नता की स्थिति में निर्धन गृहस्थ के लिए यह व्यवस्था दी गई है कि निर्धनता के कारण यदि वह अतिथि-सत्कार नहीं कर सकता है तो उसे दैवकर्म एवं स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाना चाहिए क्योंकि दैवकर्म में संलग्न व्यक्ति इस चराचर संसार को धारण करता है। मनु का कहना है कि अग्नि को दी गई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है, सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न होता है तथा अन्न से प्रजाएँ होती हैं।³⁸ मनु ने गृहस्थों के लिए सन्तोष को सुख का मूल बताया है।³⁹ उन्होंने गृहस्थों के

लिए स्वर्ग, आयु और यश को प्रदान करनेवाले व्रतसेवन की बात कही है।⁴⁰ उन्होंने गृहस्थों के लिए दिन और रात्रि के आदि और अन्त में अग्निहोत्र या हवन करने का विधान, अमावस्या में दर्श की विधि से तथा पूर्णिमा में पौर्णमास की विधि से यज्ञकर्म का विधान, अन्न की समाप्ति पर नवीन अन्नेष्टि से, ऋतु के अन्त में चातुर्मास्य याग से, अयन के प्रारंभ में पशुयाग से और वर्ष के अन्त में सोमयाग से यजन करने का विधान, दीर्घ आयु तक जीने की इच्छा रखनेवाले अग्निहोत्री ब्राह्मण के लिए नवीन सस्येष्टि के बिना नवीन अन्न के भक्षण का प्रतिषेध, पशुयज्ञ के बिना मांसभक्षण का निषेधादि का विधान किया है।⁴¹ गृहस्थों के लिए वेदविद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक, श्रोत्रिय ब्राह्मण की हव्यकव्य से पूजा करने तथा अपने हाथ से रसोई नहीं बनानेवाले संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी के लिए यथाशक्ति अन्नदान का निर्देश दिया गया है।⁴² गृहस्थजन स्वाध्याय, पुत्रोत्पत्ति एवं यज्ञसम्पादन द्वारा क्रमशः तीन प्रकार के ऋण अर्थात् ऋषिऋण, पितृऋण और देवऋण से मुक्त हो जाते हैं। तीनों ऋणों से उऋण होने पर व्यक्ति अपने परिवार के समस्त कार्यभार को अपने योग्यपुत्र को सौंपकर धन-धान्य, पुत्र-पुत्री आदि के प्रति जब ममत्वहीन हो जाता है तब ब्रह्मज्ञान द्वारा सर्वत्र समदर्शी होकर घर में रहने लगता है जो गृहस्थ के लिए संन्यासप्रकार ही है।⁴³ काम्य कर्मों, धनार्जनादि की चिन्ताओं से मुक्त होकर पुत्रों के ऊपर अपना कार्यभार सौंपकर व्यक्ति जब एकान्त स्थान में अपने कल्याण की कामना करने लगता है, उसे जब अपने ब्रह्मभाव का ज्ञान हो जाता है तो वह ब्रह्मसाक्षात्कार के माध्यम से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।⁴⁴ इस प्रकार गृहस्थाश्रम में गृहस्थों के लिए शास्त्रोक्त आचार के पालन का निर्देश दिया गया है जिसका पालन कर व्यक्ति ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है।

मनु ने वेद तथा स्मृतियों के विधान से अनुष्ठान आदि करने के कारण गृहस्थ आश्रम को श्रेष्ठ माना है। श्रेष्ठ मानने के कारण पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि गृहस्थ धर्म ही तीनों आश्रमों का पालक है। उनका कहना है कि जैसे सभी

³² मनुस्मृति, 4/1, 5/169

³³ वही, 3/4

³⁴ वही, 3/5

³⁵ वही, 3/68-69

³⁶ वही, 3/70

³⁷ वही, 3/72-74

³⁸ वही, 3/76

³⁹ वही, 4/13

⁴⁰ वही, 4/12

⁴¹ मनुस्मृति, 4/25-28

⁴² वही, 4/31-32

⁴³ वही, 4/257

⁴⁴ वही, 4/258

नदी और नद समुद्र में स्थिति को प्राप्त करते हैं जैसे ही सभी आश्रम वाले गृहस्थ में ही स्थिति को प्राप्त करते हैं।⁴⁵ वे कहते हैं कि जैसे सभी प्राणी वायु की सहायता से वास करते हैं जैसे ही सभी आश्रमों का आश्रय यह गृहस्थ आश्रम है।⁴⁶ गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए मनु कहते हैं कि गृहस्थ के द्वारा तीनों आश्रमों के लोग ज्ञान एवं अन्न से रक्षित होते हैं।⁴⁷ उनकी दृष्टि में दुर्बल इन्द्रियवालों के लिए यह गृहस्थाश्रम नहीं है। उनका मानना है कि इस लोक में सुख की इच्छा करनेवाला एवं अक्षय स्वर्ग की कामना करनेवाले व्यक्ति को प्रयत्न के साथ इस गृहस्थाश्रम को धारण करना पड़ता है।⁴⁸ यह ऋषि, पितर, देवता, भूत और अतिथि सभी के लिए आशा का केन्द्र है।

गृहस्थों के लिए भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों एवं शौचाशौच की विवेचना यहाँ प्राप्त होती है। मनु कहते हैं कि वेदाभ्यासी न होना, आचरण का परित्याग कर देना, आलस्ययुक्त होना, अन्न या भोजनविषयक दोष के कारण मृत्यु ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करती है।⁴⁹ भोजनविषयक चर्चा करते हुए कहा गया है कि लहसुन, सलगम, प्याज, छत्रक (कवक) और अपवित्र स्थान पर उत्पन्न पदार्थ अर्थात् शाकादि द्विजातियों के लिए निषिद्ध, वृक्षों का लाल रंग का गोंद, वृक्ष काटने से उत्पन्न होनेवाली गोंद, लसोंडे का फल और नवप्रसूता गोदुग्ध से बनी पेवसी या फेनुस निषिद्ध, वृथा ही बनाया गया कृसर, संयाव, पायस और अपूप तथा बिना यज्ञ के बनाया गया मांस, देवान्न और हवि का परित्याग, अनिर्देशा गाय का दूध, ऊँटिनी, एक खुरवाली घोड़ी, गधी आदि का दूध, भेड़ का दूध, गर्भिणी होने के लिए उठनेवाली गाय का दूध, मरे हुए बछड़ेवाली अर्थात् विवत्सा भैंस को छोड़कर सभी जंगली पशुओं का दूध, स्त्री का दूध तथा सभी शुक्त पदार्थों का परित्याग, कच्चा मांस खानेवाले गीध, चील आदि पक्षियों, कबूतर आदि पक्षियों, गधा, घोड़ा, खच्चरादि, एक खुरवाले पशुओं और टिटहरी के मांस का निषेध, बगुला, बलाका काकोल, खञ्जन, मछली खानेवाले पक्षियों, ग्राम्य सूअर-मछलियों का मांस, कठफोड़ा, जालपाद, कोयष्टि, नखविष्किर, वधस्थान का मांस और सूखा मांस निषिद्ध, दही-दूध से बने पदार्थ भक्ष्य, शुभ फूल, मूल तथा

फलों के द्वारा निर्मित पदार्थ भक्ष्य, हव्यकव्य में पाठीन, रोहित मछलियाँ एवं राजीव, सिंहतुण्ड और सशल्क मछलियाँ भक्ष्य, अनिन्दित भक्ष्य पदार्थ के बासी होने पर संस्कारयुक्त कर भक्ष्य, यज्ञ से बचा हुआ बासी अन्न भी भक्ष्य, जौ और गेहूँ से बने पदार्थ तथा दुग्धनिर्मित पदार्थ सेव्य, शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ में आहुत, पशुमांसभक्षण दैवविधि होने से अनिषिद्ध, किन्तु शास्त्रपरम्परा के विपरीत जिह्वा की तृप्ति एवं उदरपूर्ति के लिए निषिद्ध, आपत्तिकाल के बिना मांसभक्षण ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध, मन्त्र द्वारा संस्कारित मांस सेवन ब्राह्मणों के लिए भी स्वीकार्य, देव व पितर उद्देश्य के बिना पशुवध निषिद्ध, गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम अथवा वानप्रस्थाश्रम में वास करते हुए आत्मज्ञानी ब्राह्मण के लिए वेदनिषिद्ध हिंसा अस्वीकार्य, वेदविहित हिंसा स्वीकार्य, प्राणीवध का निषेध, मांसभक्षण से निवृत्ति, शुद्ध फल, कन्द, सांवा, कोद्रव आदि छोटे अनाज भक्ष्य, मांसभक्षण, मदिरापान और मैथुन दोषरहित होते हुए भी त्याज्य आदि - इस प्रकार गृहस्थाश्रमियों भक्ष्याभक्ष्य की चर्चा की गई है। इसी तरह यहाँ मरनाशौच, जननाशौच, विविध प्रकार के अशौच, क्षमा, दान, जप एवं तप की शोधकता, मलिन पात्रदि, नदी एवं स्त्री तथा ब्राह्मण की शुद्धि, मन, शरीर एवं बुद्धि की शुद्धि, द्रव्यशुद्धि, घृतादि, शय्यादि की शुद्धि, यज्ञपात्र की शुद्धि, चर्मपात्र, बाँस का पात्र एवं फलमूल की शुद्धि, कम्बल एवं वस्त्रदि की शुद्धि, झोपड़ी एवं मिट्टी के बर्तनादि की शुद्धि, भूमि की शुद्धि, आचमन विधि आदि की चर्चा प्राप्त होती है। सभी वर्णों की सम्पूर्ण शौच एवं द्रव्य की शुद्धि का विवेचन, स्त्रीधर्म के अन्तर्गत स्त्री की परतन्त्रता, स्त्री की प्रसन्नता, गृहकार्यों में दक्षता, अल्प व्यय करनेवाली, वस्तुओं को शुद्ध करने में निरतता, पिता अथवा पिता की अनुमति से भाई के द्वारा जिसे पतिरूप में प्राप्त करती है, उसकी आजीवन सेवा, पति को देवता के समान मानते हुए सेवा, पतिसेवा ही स्त्रियों के लिए यज्ञ, व्रत और उपवास के समान, जीवित अथवा मृत पति के प्रति अप्रिय आचरण नहीं, पतिव्रता व्रत का पालन, मन, वचन और कर्म से संयमयुक्त एवं संयत रहना आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार मनुस्मृति के पंचम अध्याय में गृहस्थाश्रमियों के कृत्याकृत्य का विवेचन प्राप्त होता है।

⁴⁵ वही, 3/89-90

⁴⁶ वही, 3/77

⁴⁷ वही, 3/78

⁴⁸ वही, 3/79

⁴⁹ वही, 5/4

3. वानप्रस्थ - वानप्रस्थ शब्द की व्युत्पत्ति है - वाने वनसमूहे प्रतिवसति इति वानप्रस्थः, वाने वनसमूहे प्रतिष्ठते इति वानप्रस्थः। वान उपपदपूर्वक प्र उपसर्गपूर्वक √स्था धातु से क प्रत्यय लगकर वानप्रस्थ शब्द निष्पन्न होता है। वनप्रस्थ एवं वानप्रस्थ यहाँ स्वार्थ में अण् प्रत्यय लगकर वानप्रस्थ रूप सम्पन्न होता है। वनप्रस्थे जातः इस अर्थ में अण् प्रत्यय लगकर वानप्रस्थ रूप बनता है, जिसका अर्थ है - पुत्रमुत्पाद्य वनवासं कृत्वा अकृष्टपच्यफलादि भक्षयित्वा ईश्वराराधनं करोति यः स वानप्रस्थः। अर्थात् पुत्र को उत्पन्न करके वन में निवास करते हुए अकृष्टपच्यफलादि का भक्षण कर ईश्वराराधन करनेवाला वानप्रस्थ कहलाता है। वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थः, वनप्रस्थ एव वानप्रस्थः - वन में कठोर नियमों को पालन करते हुए निवास करनेवाला वानप्रस्थ कहलाता है। प्रतिष्ठन्ते अस्मिन् प्रस्थः, वनप्रस्थे भवो वानप्रस्थः वैखानसाख्यः - वन में प्रकृष्ट रूप से निवास करने के कारण वानप्रस्थ कहलाता है। वैखानस को इसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। वाने वनसमूहे प्रतिष्ठते, वान + प्र + स्था + क इति वानप्रस्थः अर्थात् अपने धार्मिक जीवन के तीसरे आश्रम में प्रविष्ट ब्राह्मण, वैरागी, साधु आदि इसके अर्थ हैं।⁵⁰ मनु ने भी तृतीय आश्रम के रूप में वानप्रस्थ आश्रम या वैखानस आश्रम का निरूपण किया है। उनका कहना है कि गृहस्थ आश्रम को पूर्ण करने के उपरान्त स्नातक द्विज वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते हैं।⁵¹ इस आश्रम में शास्त्रोक्त विधान के अनुसार जितेन्द्रिय होते हुए वास करने का निर्देश दिया गया है। उनका कहना है कि शिथिला चमड़ा, पके बालों एवं पौत्र को देख लेने के उपरान्त गृहस्थ को वानप्रस्थी हो जाना चाहिए। उसे गोधूम, धान्यादि ग्राम्य भोज का परित्याग, समस्त परिग्रह का परित्याग, पत्नी का दायित्व पुत्रों को सौंपकर अथवा पत्नी के साथ वन में आश्रय लेना चाहिए। वन में अग्निहोत्र और होम के उपकरणों के साथ जितेन्द्रिय होकर उन्हें गाँव से बाहर वन में निवास करने की सलाह दी गई है।⁵² वानप्रस्थ आश्रम में वानप्रस्थी की जाननेवाली अपेक्षाएँ हैं - पवित्र मुनि अन्न से (सांवा, कोद्रव आदि छोटे अन्न से), शाक, मूल

अथवा फल से विधिपूर्वक पञ्चमहायज्ञ करना, मृगचर्म और वल्कल धारण करना, जटा, मूँछ, रोम और नखों को धारण करना, सामर्थ्य के अनुसार बलि और भिक्षा देना, आश्रमागत लोगों को जल, कन्द और फलों से सत्कारपूर्वक भिक्षा देना, सर्वदा स्वाध्याय करना, द्वन्द्वसहिष्णु एवं मित्रता का भाव रखना, मन और इन्द्रियों को वश में रखना, दान देना, सभी प्राणियों पर दया करना, समयानुसार दर्श और पौर्णमास पर्व को करते हुए विधिपूर्वक वैतानिक अग्निहोत्र करना, नक्षत्र यज्ञ, आग्रहायण यज्ञ, चातुर्मास्य यज्ञ, उत्तरायण यज्ञ और दक्षिणायन यज्ञ करना, अग्नि में पकाये अन्न को खाना, समय पर पके फल को खाना, पत्थर से कूटकर अथवा दाँत ओखली में चबाकर खानेवाला बनना, शक्ति के अनुरूप अन्न लाकर रात्रि (सांयकाल) में और दिन में भोजन करना अथवा चतुर्थकालिक या अष्टमकालिक उपवास करना, शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष में चान्द्रायण व्रत से भोजन करना, समय पर पके हुए तथा स्वयं गिरे हुए फूल, कन्द और फलों से जीवनयापन करना, गर्मियों में पञ्चाग्नि यज्ञ, वर्षा ऋतु में आकाश की नीचे एवं हेमन्त ऋतु में गीला वस्त्र पहनना, प्रतिदिन तीन समय स्नान करता हुआ पितृ और देवयज्ञ करना एवं पक्ष, मास, उपवास आदि कठोर व्रतों का पालन करना, पृथ्वी पर सोना, निवासस्थान के विषय में ममत्वहीन होना, वृक्ष के नीचे वास करना, फल, मूलादि प्राप्त न होने पर तपस्वी ब्राह्मणों से जीवन निर्वाह योग्य भिक्षा प्राप्त करना और वह भी प्राप्त न होने पर वन में निवास करने वाले गृहस्थ ब्राह्मणों से भिक्षा लेना, शास्त्रोक्त नियमों का पालन करते हुए विदा और तपस्या की वृद्धि के लिए, शरीर शुद्धि के लिए एवं आत्मसिद्धि हेतु विविध वेद और उपनिषदों का सेवन करना, असाध्य रोग की दशा में जल और पवन पर निर्भर होते हुए शरीर नष्ट होने तक दक्षिण दिशा की ओर गमन करना और इस प्रकार कर्म के द्वारा मुक्ति मार्ग को प्रशस्त करना। इस प्रकार मनुस्मृति के षष्ठ अध्याय में मनु ने वानप्रस्थियों के लिए विस्तार से नियम का विधान किया है।

4. संन्यास - सामान्यतः संन्यास शब्द का अर्थ है - छोड़ना, त्याग करना, सांसारिक विषयों तथा अनुरागों से पूर्ण

⁵⁰ वाचस्पत्यम्, भाग-6, पृ. 4878; शब्दकल्पद्रुम, भाग-4, पृ. 338; संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 917

⁵¹ मनुस्मृति, 6/1

⁵² वाचस्पत्यम्, भाग-6, पृ. 5219; शब्दकल्पद्रुम, भाग-5, पृ. 252; संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 1070

वैराग्य सांसारिक वासनाओं का परित्याग आदि।⁵³ सम् और नि उपसर्गपूर्वक √अस् धातु से घञ् प्रत्यय लगकर संन्यास शब्द निष्पन्न होता है – सम्यक् रूपेण न्यस्यत इति संन्यास अर्थात् अच्छी तरह से या पूर्णता के साथ स्थापित करना संन्यास है। मनु का कहना है कि वानप्रस्थ आश्रम में विषय-वासनाओं की शान्ति के लिए कुछ समय तक वन में कठोर तपस्या आदि करके आयु के चतुर्थ भाग में समस्त विषयवासनाओं का त्याग करके संन्यासाश्रम में प्रवेश करता है।⁵⁴ वस्तुतः वानप्रस्थ आश्रम में समस्त सांसारिक माया मोह से अपने को पूर्णतः तटस्थ करके मनुष्य ऐकान्तिक एवं तपस्वी का जीवन जीने का अभ्यास करता है तथा संन्यास आश्रम में उसे समस्त सांसारिक बन्धनों का परित्याग करना पड़ता है। मनु कहते हैं कि आश्रम से आश्रम में जाकर होम की आहुति देकर जितेन्द्रिय, भिक्षा एवं बलिकर्म से थका हुआ व्यक्ति संन्यास लेता हुआ मरकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।⁵⁵ मनु ने त्रिविध ऋण को चुकाये बिना द्विज को संन्यास आश्रम में प्रवेश की अनुमति प्रदान नहीं की है।⁵⁶ उनका कहना है कि संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने से पूर्व वेदाध्ययन करना, यथाशक्ति यज्ञानुष्ठान करना, संतानोत्पत्ति करना अर्थात् त्रिविध ऋणों से मुक्त होकर मोक्ष में मन लगाना अनिवार्य है।⁵⁷ मनु का कहना है कि संन्यास आश्रम की इच्छावाले मनुष्य को प्राजापत्य यज्ञ के द्वारा सम्पूर्ण संपत्तियों का दान कर गृहत्याग करना पड़ता है।⁵⁸ वे कहते हैं कि समस्त प्राणियों को निडर करके संन्यास लेनेवाला ब्रह्मज्ञानी सूर्यादि के प्रकाश से रहित स्वयं प्रकाशमान ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है।⁵⁹ उनके विचार में संन्यास धारण करने के लिए गृहत्याग करनेवाले द्विज को पवित्र कमण्डलु आदि वस्तुओं से युक्त होना पड़ता है तथा कामों में निरपेक्ष होना पड़ता है।⁶⁰ उसे मुक्ति के लिए अकेले ही विचरण करना पड़ता है।⁶¹ मनु का मानना है कि अकेले विचरण करनेवाला व्यक्ति न तो किसी का परित्याग करता है और न ही

किसी परित्याग से दुःखी रहता है अर्थात् निर्ममत्वभाव से मुक्ति की साधना करता है। संन्यास आश्रम में आचरणयोग्य मुख्य बातें मनु के अनुसार निम्न हैं -

1. लौकिक अग्नि से रहित, गृहत्याग करनेवाला, शरीर की उपेक्षा करनेवाला, स्थिर व शान्त बुद्धिवाला ब्रह्म के मनन में लगा हुआ मुनि अन्न के लिए गाँव का आश्रय ले सकता है।
2. जीवन और मृत्यु की अभिलाषा से रहित काल की अर्थात् नियमानुसार प्राप्त मृत्यु की प्रतीक्षा करनी चाहिए।
3. देखकर पवित्र भूमि पर पैर रखना, वस्त्र से छानकर जल पीना, सत्य से पवित्र वाणी बोलना, निषिद्ध विचारों से रहित मन से पवित्र रहना, मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाली कठोर वाणी को सहन करना, किसी का अपमान न करना, शरीर का आश्रय लेकर किसी के साथ वैरभाव न रखना, क्रोध करनेवाले पर भी क्रोध न करना, निन्दा करने पर भी मधुर बोलना और असत्य वाणी का परित्याग करना।
4. उत्पात, निमित्त, नक्षत्र, अङ्गविद्या, अनुशासन एवं वाद से कभी भी भिक्षा लेने की इच्छा न करना।
5. बाल, नाखून और दाढ़ी-मूँछ को मुँडवाकर, भिक्षापात्र को धारण करनेवाला, दण्ड को धारण करने वाला तथा कमण्डलु धारण करनेवाले संन्यासी से अपेक्षा की जाती है कि किसी भी प्राणी को पीड़ित किये बिना सदा सावधान होकर उन्हें विचरण करना चाहिए।
6. संन्यासियों का भिक्षापात्र छिद्र से रहित एवं तैजस धातुओं अर्थात् सोना, चाँदी, ताँबा आदि से भिन्न धातुओं का बना होना चाहिए। तुम्बी, लकड़ी का पात्र, मिट्टी का पात्र अथवा बाँस का पात्र संन्यासियों का पात्र होता है।
7. संन्यासी को एक समय ही भिक्षा के लिए विचरण करना चाहिए। इसके लिए सही समय का भी निर्देश किया गया है।
8. जीवन निर्वाह योग्य भिक्षा की अपेक्षा करनी चाहिए। भिक्षादि के न मिलने पर विषाद मिलने पर हर्ष नहीं करना चाहिए। विशेष सत्कार से मिलनेवाली भिक्षा की प्रशंसा से बचना चाहिए।

⁵³ वाचस्पत्यम्, भाग-6, पृ. 5219; शब्दकल्पद्रुम, भाग-5, पृ. 252; संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 1070

⁵⁴ वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्। - मनुस्मृति, 6/33

⁵⁵ वही, 6/34

⁵⁶ वही, 6/35

⁵⁷ वही, 6/36

⁵⁸ वही, 6/39

⁵⁹ वही, 6/40

⁶⁰ वही, 6/41

⁶¹ वही, 6/42

विषय-वासना के प्रति आसक्त इन्द्रियों को अल्प भोजन और एकान्त वास के द्वारा नियंत्रित करना चाहिए।

इन्द्रिय-निरोध, रागद्वेष का परित्याग, प्रणियों की अहिंसा, अधर्म एवं धर्म पर विचार, योग करना, सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखना, छह तरह के प्राणायाम करना, धारणा, ध्यान, सम्यक् दर्शन, वैदिक कर्म और उग्र तपस्या, कर्माधीन एवं स्वाधीन रूप में देहत्याग की बात यहाँ कही गई है। कर्माधीन एवं स्वाधीन रूप से शरीर त्याग किये जाने पर संन्यासी पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है।⁶²

मनु का कहना है कि विषयदोष की भावना से सभी भावों या विषयों में निस्पृह, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, मान-अपमानादि से रहित संन्यासी इस लोक में और परलोक में अविनाशी सुख को प्राप्त करता है तथा ब्रह्म में लीन हो जाता है। मनु का मानना है कि उपर्युक्त नियम सावधान अन्तःकरणवाले संन्यासियों के लिए विहित है। इसके अनन्तर मनु वेदसंन्यासियों के कर्मयोग की चर्चा करते हैं।⁶³ कुल्लूकभट्ट वेदसंन्यासी के कुटीचर संन्यासी का ग्रहण करते हैं। गोविन्दराज ऐसे गृहस्थ को वेद संन्यासी मानते हैं जो वेदोक्त अग्निहोत्रदि कर्मों का त्याग करके ज्ञानमात्र से सम्पादित होनेवाले वैदिक कर्मों को करते हैं। मेधातिथि वेदसंन्यासी को निराश्रयी मानते हैं किन्तु आश्रमों की संख्या चार होने से पञ्चमाश्रमी अर्थात् निराश्रमी भी सम्भव नहीं है। स्वयं मनु ने चार आश्रमों अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति की चर्चा करते हुए इन्हें गृहस्थ से उत्पन्न माना है।⁶⁴ मनु का कहना है कि शास्त्रोक्त विधि से आश्रमों का विधिपूर्वक पालन करनेवाला परम गति को प्राप्त करता है।⁶⁵ उनके द्वारा चारों ही आश्रमों में क्रमशः निवास करनेवाले द्विजों को धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और अक्रोध अर्थात् दश प्रकार के धर्म का पालन करने का निर्देश दिया गया है। मनु कहते हैं कि दश लक्षणवाले धर्म का अनुष्ठान करता हुआ सावधान चित्तवाला द्विज को वेदान्त को विधिपूर्वक सुनकर ऋणमुक्त होकर संन्यास ग्रहण करना चाहिए तथा सभी कर्मों का त्याग करके कर्म दोषों को नष्ट करता हुआ जितेन्द्रिय होकर वेद का अभ्यास करके पुत्र के ऐश्वर्य में रहना चाहिए।⁶⁶ वस्तुतः उक्त विवेचन को कुल्लूकभट्ट ने कुटीचर संन्यासी के अर्थ में ग्रहण किया है अर्थात् जब संन्यासी सभी प्रकार के गृहस्थों के द्वारा अनुष्ठान करने योग्य अग्निहोत्रदि कर्मों का त्याग करके अनजाने में हुए

प्राणियों के वध से होनेवाले पापों को प्राणायाम के द्वारा नष्ट कर देता है तथा जितेन्द्रिय होकर वेद का अर्थतः अभ्यास कर लेता है तब वह पुत्रदि के द्वारा दिये जानेवाले भोजनवस्त्रदि से वृत्ति की चिन्ता न करते हुए सुखपूर्वक निवास करता है।

इस प्रकार मनु ने अत्यन्त विशद एवं सुव्यवस्थित रूप में चारों आश्रमों का निरूपण किया है। यह व्यवस्था मानव जीवन की संपूर्णता को अभिलक्षित करता है एवं मनुष्य एवं समाज को सुसंयोजित कर सामाजिक व्यवस्था के सुसंचालन में महनीय भूमिका का निर्वहण करता है। नैतिकता और मनोवैज्ञानिकता पर आधारित यह व्यवस्था जहाँ पुरुषार्थ के साथ समन्वित होकर मनुष्य को नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण प्रदान करता है वहीं समाज के प्रति अपने दायित्वों का वहन करने के लिए व्यक्ति को अभिप्रेरित करता है जिससे व्यक्ति अपने कर्तव्यों का सफल निर्वाह करता है। चतुराश्रमव्यवस्था के विभाजन का आधार जितना नैतिक है उतना ही वैज्ञानिक भी है। मानवजीवन को चार भागों में विभक्त कर प्रत्येक भाग के लिए कर्तव्यों का निरूपण, जिसको आलम्बन कर व्यक्ति परमपद को प्राप्त कर लेता है, विज्ञान की दृष्टि से भी स्वीकार्य है। वस्तुतः आश्रमव्यवस्था मनुष्य में मनुष्यत्व का आधान कर उसे परमपद प्राप्ति का पात्रत्व प्रदान करता है। यह मनु आदि भारतीय व्यवस्थाकारों की वैश्विक पटल पर अमूल्य अवदान है।

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

1. धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), काणे, भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरंग वामन अनुवादक - काश्यप, अर्जुन चौबे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण-1963.
2. मनुस्मृति, अनुवादक - चतुर्वेदी, डॉ. ज्वाला प्रसाद, रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन), हरिद्वार, द्वितीय संस्करण-1988.
3. मनुस्मृति (सप्तमाध्यायपर्यन्त), टीकाकार - जैन, डॉ. जयकुमार, साहित्य भण्डार मेरठ, प्रथम संस्करण-1983.
4. वाचस्पत्यम्, भट्टाचार्य, श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, 1969, द्वितीय से षष्ठ भाग, प्रथम संस्करण-1970.

⁶² मनुस्मृति, 6/96

⁶³ वही, 6/86

⁶⁴ वही, 6/87

⁶⁵ वही, 6/88

⁶⁶ वही, 6/94-95

5. शब्दकल्पद्रुम (1-4 भाग), देव, राजा राधाकान्त, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, प्रथम पुनर्मुद्रित संस्करण, 1987.
6. संस्कृत-आंग्ल कोश, आप्टे, वामन शिवराम, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय संस्करण-1970.
7. संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, वामन शिवराम, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1966.